जैन दर्शन सम्मत आत्मा जैनेतर दर्शनों के आलोक में

डॉ० प्रेमचन्द जैन

भारतीय विचार-जगत् के दार्शनिक-वाङ्मय में सुदीर्घ काल से अनुभूतिधारक तत्त्व अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में उत्सुकता एवं विचारात्मक अनुसन्धान चला आ रहा है। अब तक अनेक तीर्थंकर, ऋषि-मुनि, तत्त्व-चिन्तक, संन्यासी, ईश्वर-भक्त, सन्त, मनीषा-निधि, दार्शनिक पुरुष और सर्वोच्च कोटि के निर्मल चरित्र सम्पन्न लोक-सेवक नानाविध भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगूढ समस्याओं का चिन्तन-मनन करते हुए इस विचार-मन्थन में अनुरक्त रहे हैं कि इस महान् अज्ञात और अज्ञेय रहस्य वाले ब्रह्माण्ड में मौलिकता तथा अमरता का कौन-सा तत्त्व है ?

इस दार्शनिक विचारणा की धारा शनैःशनैः विभिन्न कोटि के चिन्तकों के मस्तिष्क में प्रवाहित होने लगी और परिणामस्वरूप नित्य नये-नये विचार और नई-नई व्यवस्थाएं तथा अपूर्व कल्पनायें इस अनुभूतिमय तत्व के सम्बन्ध में उपस्थित होने लगीं। उन्हीं को आधार करके मैं यहां यह बताने का प्रयास कर रहा हूं कि विभिन्न भारतीय दर्शनों में आत्मा के विषय में क्या मन्तव्य है ?

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। अतः उसके मत में स्वर्ग, नरक, आत्मा, परलोक आदि नहीं है। यह संसार इतना ही है जितना दृश्यमान् है। जड़ जगत् पृथ्वी आदि चार प्रकार के तत्त्वों से बना हुआ है। जैसे पान, चूने और कत्थे में अलग-अलग से ललाई नहीं दीखती, पर उनके मिलाने से ललाई उत्पन्न हो जाती है और मादक द्रव्यों के संयोग से मदिरा में मादकता का आविर्भाव होता है, वैसे ही पृथ्वी आदि चारों भूत जब देहरूप में परिणत होते हैं, तब उस परिणामविशेष से उसमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है।[1] उस चैतन्य-विशिष्ट देह को जीव कहा जाता है।[2] "मैं स्थूल हूं", "मैं कृश हूं", "मैं दुःखी हूं" आदि अनुभवों का ज्ञान हमें चैतन्ययुक्त शरीर से होता है। इन तत्वों (भूतों) के नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है।[3] अतः चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही कर्त्ता तथा भोक्ता है। उससे भिन्न आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। शरीर अनेक हैं, अतः उपलक्षण से जीव भी अनेक हैं। शरीर के साथ उत्पत्ति एवं विनाश स्वीकार करने से वह शरीराकार और अनित्य है। चार्वाक का एकदेश कोई इन्द्रिय को, कोई प्राण को और कोई मन को भी आत्मा मानते हैं।[4] कोई चैतन्य को ज्ञान और देह को जड़ मानते हैं। उनके मत में आत्मा ज्ञान-जड़ात्मक है।[5]

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध दार्शनिकों ने नित्य शाश्वत आत्म-सत्ता का निषेध किया है, परन्तु आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं किया। इनके अनुसार आत्मा से किसी स्थायी द्रव्य का बोध नहीं होता है, किन्तु विज्ञान-प्रवाह का बोध होता है।[6] विज्ञान के गुणरूप होने के कारण उसका कोई परिणाम नहीं है। बुद्ध को उपनिषद् प्रतिपादित आत्मा के रहस्य को समझाना प्रधान-विषय था। सकल दुष्कर्मों के मूल में इसी आत्मवाद

१. 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते।', सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २

२. 'चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा।', सर्व० द० संग्रह, पृ० ४

३. 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।', बृ०, २/४/१२

४. 'चार्वाकैकदेशिन एव केचिदिन्द्रियाण्येवात्मा, अन्ये च प्राण एव-आत्मा अपरे च मन एवात्मेति मन्यन्ते।', सर्व० द० संग्रह, पृ० ५६

५. चैतन्यविशिष्टे देहे च चैतन्यांशो बोधरूपः देहांश्च जड़रूप इत्येतन्मते जड़बोधैतदुभयरूपो जीवो भवति।', सर्व० द० संग्रह, पृ० ५६

६. 'विज्ञानस्वरूपो जीवात्मा।', सर्व० द० संग्रह, पृ० ५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को कारण मानकर उन्होंने आत्मा जैसे एक पृथक् पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार किया है।[1] विज्ञानों का प्रवाहरूप आत्मा प्रतिक्षण नष्ट होने के कारण अनित्य है। पूर्व-पूर्व विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में कारण रूप होने से मानसिक अनुभव और स्मरणादिक की असिद्धि नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। डॉ० फरकोहर का मत है कि बुद्ध पुनर्जन्म को मानते थे किन्तु आत्मा के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था।[2]

यदि बुद्ध आत्मा की नित्यता को नहीं मानते थे तो पुनर्जन्म में उनका विश्वास कैसे हो सकता था। बाल्य, युवा और वृद्धावस्था में एक ही व्यक्ति का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद और परिवर्तनवाद के कारण नित्य आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करते हुए भी बुद्ध यह स्वीकार करते थे कि जीवन विभिन्न अवस्थाओं का एक प्रवाह है, जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कार्य-कारण संबंध रहता है, इसलिए सम्पूर्ण जीवन एकमय प्रतीत होता है। जैसे—दीपकज्योति, वह प्रतिक्षण भिन्न होने पर भी अविच्छिन्न ज्ञात होती है। एक बार बुद्ध ने आत्मा के विषय में पूछने पर कहा था कि यदि मैं यह कहूं कि आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं और यदि यह कहूं कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं।[3] बुद्ध ने मध्यम मार्ग बताया।

राहुल सांस्कृत्यायन का मत है कि बुद्ध के समय में आत्मा के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार प्रचलित थे पहला तो यह कि आत्मा शरीर में बसने वाली, पर उससे भिन्न एक शक्ति है, जिसके रहने से शरीर जीवित रहता है और जिसके चले जाने से वह शव हो जाता है। दूसरा आत्मा शरीर से भिन्न कोई कूटस्थ वस्तु नहीं है। शरीर में ही रसों के योग से आत्मा नामक शक्ति पैदा होती है, जो शरीर को जीवित रखती है। रसों का न्यूनाधिक्य होने से इस शक्ति का लोप हो जाता है, जिससे शरीर जीवित नहीं रह पाता। बुद्ध ने अन्यत्र की तरह यहां पर भी मध्यम मार्ग अपनाया और बताया कि आत्मा न तो सनातन है, न कूटस्थ और न ही वह शरीर के रसों पर अवलम्बित है और न ही शरीर से भिन्न है। वह असल में भूतों (स्कन्धों) और मन के योग से उत्पन्न एक शक्ति है। जो अन्य बाह्यभूतों की भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन होती रहती है। उन्होंने न तो भौतिकवादियों के अनुच्छेदवाद को स्वीकार किया और न उपनिषद्वादियों के शाश्वतवाद को। आत्मा के विषय में उनका मत अशाश्वतानुच्छेदवाद का पर्याय था।[4] माध्यमिक बौद्धों के अनुसार व्यवहार दशा में जीवात्मा प्रतिभासित होता है, किन्तु उसका मूलस्वरूप शून्य ही है।[5]

वेदान्तदर्शन

शंकराचार्य का मत है कि स्वभावतः जीव एक और विभु है, परन्तु शरीरादि उपाधियों के कारण अनेक प्रतीत होता है। एक विषय का दूसरे विषय के साथ भेद, ज्ञात और ज्ञेय का भेद, जीव और ईश्वर का भेद ये सब माया की सृष्टि है। उपनिषदों में प्रतिपादित जीव और ब्रह्म की एकता के वे पूर्ण समर्थक हैं। शंकराचार्य का कथन है कि प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है। अतः इन व्यवहारों से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता, निराकरण होता है तो आगन्तुक वस्तु का, स्वभाव का नहीं।[6] मनुष्य, शरीर और आत्मा के संयोग से बना हुआ जान पड़ता है परन्तु जिस शरीर को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, वह अन्यन्य भौतिक विषयों की तरह माया की सृष्टि है, इस बात का ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में कुछ अन्तर नहीं है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म ही ईश्वर है, उसके शरीर-भूत जीव और जगत् उससे भिन्न हैं तथा नित्य हैं। अतः जीव और जगत् उससे भिन्न हैं तथा नित्य हैं, अतः पदार्थ एक नहीं तीन हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। जीव (चित्) अणुपरिमाण है किन्तु अनन्त है।[7]

सांख्य-दर्शन

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष (आत्मा) दो मूल तत्त्व हैं। प्रकृति जड़ है परन्तु पुरुष चेतन तथा अनेक हैं। सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानता है। सांख्य पुरुष को अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रियारहित, अकर्त्ता, निर्गुण और सूक्ष्म मानता

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० १८५

२. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १३५-१३६

३. 'अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षणः॥', मा० का०, १८/१०

४. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १३९

५. वही, पृ० १३९

६. 'आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति।
न चेदृशस्य निराकरणं संभवति, आगन्तुकं हि निराक्रियते न स्वरूम···।', शांकरभाष्य, २/३/७

७. 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।', श्वे०, ५/९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। सांख्य पुरुष को कर्त्ता नहीं मानता किन्तु प्रातिभासिक कर्त्ता और फल भोक्ता मानता है।[1] उसका मानना है कि कर्तृत्वशक्ति प्रकृति में है।[2] "मैं हूं" 'यह मेरा है', इस प्रतीति के द्वारा आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध है। बुद्धि में चेतना-शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से आत्मा (पुरुष) अपने को अभिन्न समझता है, अतः आत्मा में 'मैं सुखी हूं, दुःखी हूं', ऐसा ज्ञान होता है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसकों का मानना है कि आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता है। वह व्यापक है और प्रत्येक शरीर में विद्यमान है। ज्ञान सुख-दुःख तथा इच्छादि गुण उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। आत्मा ज्ञानसुखादिरूप नहीं है। भाट्ट-मीमांसक आत्मा को अंशभेद से ज्ञानस्वरूप और अंशभेद से जड़स्वरूप मानता हो उसकी मान्यता है कि आत्मा बोध-अबोध रूप है।[3] भाट्ट आत्मा के क्रिया-स्वरूप को मानते हैं उनके अनुसार परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है। आत्मा चिदंश से प्रत्येक ज्ञान को प्राप्त करता है और अचिदंश से वह परिणाम को प्राप्त करता है।[4] कुमारिल आत्मा को चैतन्यस्वरूप नहीं किन्तु चैतन्यविशिष्ट मानते हैं। शरीर तथा विषय से संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य का उदय होता है पर स्वप्नावस्था में विषय से सम्पर्क न होने के कारण आत्मा में चैतन्य नहीं रहता।

जैन-दर्शन

दर्शन-क्षेत्र में जैन-दर्शन का विशेष महत्त्व है। इसका जीव-अजीव का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। जैन-दर्शन वैज्ञानिक दर्शन है। इसकी मान्यता है कि चेतना ही 'जीव' या आत्मा है। चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है।

चेतना लक्षणो जीवः[5]

आत्मा जड़ से भिन्न और 'चैतन्यस्वरूप' है। सांख्ययोग में जिसे 'पुरुष' कहा गया है, बौद्ध जिसे 'विज्ञान-प्रवाह' कहते हैं, चार्वाक जिसे 'चैतन्य-विशिष्ट-देह' मानते हैं, और न्याय-वैशेषिक तथा वेदान्तमत से जो आत्मा है, वह जैन-दर्शन की दृष्टि से जीव है। इतने पर भी जैन दर्शन की आत्माविषयक विचारधारा अन्य दर्शनों से स्वतन्त्र है।

द्रव्यसंग्रह में जीव की व्याख्या इस प्रकार है—

जीवो उवओगमओ अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥[6]

अर्थात् जीव उपयोगमय, अमूर्त, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और स्वभावतः ऊर्ध्वगतिवाला होता है। इसी प्रकार की व्याख्या कुन्दकुन्दाचार्य ने भी पंचास्तिकाय में की है—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता च देहमत्तो ण हि मूत्तो कम्मसंजुत्तो॥[7]

अर्थात् जीव अस्तित्ववान्, चेतन, उपयोगमय, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, अमूर्त और कर्मसंयुक्त है।

जैनों ने आत्मा की सूर्य से उपमा दी है। आत्मा के साथ ही जीव है अन्यथा मृत है। बन्धनयुक्त होने पर आत्मा की शक्ति परिमित हो जाती है। आत्मा जीव है और जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है। आत्मा शरीर से भिन्न है और सर्वत्र व्याप्त है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह जड़ द्रव्यों की तरह विस्तार करता है, परन्तु इसमें शरीर के भिन्न अंगों के अनुभव वर्तमान हैं। आत्मा आलोक की तरह शरीर के प्रत्येक स्थान में चैतन्य द्वारा व्याप्त रहता है। यह शरीर का परिचालक है और इन्द्रियां साधन हैं। शरीर और चैतन्य में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। शरीर के साथ चैतन्य का साहचर्य नित्य नहीं होता जैसे निद्रा और मूर्च्छा के समय चैतन्य अपना कार्य करता है।

महावीर ने आत्मा को सरल शब्दों में इस प्रकार बताया है—

---

१. 'प्रकृतेरेव वस्तुतः कर्तृत्वम् तच्च प्रकृतिसम्बन्धाज्जीवात्मनि प्रतिभासः,
अतस्तत्प्रातिभासिकमिति सांख्या पातञ्जलाश्च वदन्ति भोक्तृत्वमप्येवमेव।', सर्व० द० संग्रह, पृ० ५८

२. सांख्यकारिका, ६२

३. 'भाट्टाः आत्मानमंशभेदेन ज्ञानस्वरूपं जड़स्वरूपं चेच्छन्ति। तेषां मत आत्मा बोधाबोधरूप इति···।', चित्पद प्रकरण, ६/६५

४. 'चिदंशेन दृष्टत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन।', वही

५. षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ४७

६. द्रव्यसंग्रह, गाथा २

७. पंचास्तिकाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च सुपट्ठिय दुपट्ठियो॥

आत्मा ही कर्ता और विकर्ता है, यही सुख और दुख का भोक्ता है। आत्मा ही मित्र, अमित्र, सुप्रयुक्त और दुष्प्रयुक्त है। और भी—

अप्पा दंतो सुही होई अस्सि लोए परत्थए।[1]

अर्थात् आत्मा का दमन करने वाला दोनों लोकों में सुखी होता है। आत्मा के लक्षणों के बारे में इस प्रकार कहा गया है—

नाणं च दंसगं चेव चरित्रं च तवो तहा।
विरियं उवभोगो च एवं जीवस्स लक्खणं॥[2]

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपभोग आत्मा के लक्षण हैं। 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' में वादिदेव सूरि ने संसारी आत्मा का स्वरूप बताया है कि—"प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध,[3] चैतन्यस्वरूप, परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाण, प्रत्येक शरीर में भिन्न और पौद्गलिक कर्मों से युक्त आत्मा है।"[4]

चार्वाक जड़ से भिन्न पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करते। जैनों से बौद्ध दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि चैतन्य जड़-पदार्थ का विकार नहीं है। किन्तु वे आत्मा नामक एक सत् पदार्थ के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते, केवल विज्ञान-प्रवाह को मानते हैं। उनका मानना है कि प्रतिक्षण उदय और लय होने वाले इस विज्ञान-प्रवाह के मूल में कोई स्थाई सत् पदार्थ नहीं है। वैशेषिक चैतन्य को, आत्मा से भिन्न, देह-इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला आगन्तुक धर्म मानते हैं।

प्रतिसमय अन्यान्य पर्यायों में गमन करने के कारण आत्मा 'परिणामी' है। जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि बनते हैं, तब भी वह सोना ही रहता है, ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें बदलती हैं, तो भी जीव-द्रव्य वैसा ही रहता है।

आत्मा का 'परिणामी' विशेषण होने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि भिन्न हो जाते हैं, क्योंकि वे आत्मा को अपरिणामी कूटस्थनित्य मानते हैं।

आत्मा कर्ता तथा साक्षाद्भोक्ता भी है। जैसा कर्म करता है वैसा फल भोगता है। संसारी आत्मा अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का स्वयं संचय करता है और उसका फल साक्षात् भोगता है।

परिणामी, कर्ता और साक्षाद्भोक्ता विशेषणों के द्वारा सांख्य अलग हो जाते हैं। कारण वे प्रकृति को कर्ता मानते हैं और पुरुष को कर्तृत्वशक्ति-रहित, परिणामरहित, आरोपित भोक्ता मानते हैं।

आत्मा 'स्वदेह-परिणाम' है कारण उसका संकोच और विस्तार कार्माणशरीर सापेक्ष होता है। कर्मयुक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बंधे हुए होते हैं, इसलिए उनका परिणाम स्वतन्त्र नहीं होता। जो आत्मा हाथी के शरीर में रहता है वह चींटी के शरीर में भी रह सकता है क्योंकि उसमें संकोच-विस्तार की शक्ति है।

आत्मा का 'स्वदेह-परिणामी' विशेषण होने के कारण न्याय, वैशेषिक, अद्वैतवेदान्ती और सांख्य भिन्न हो जाते हैं, कारण कि वे आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं।

आत्मा प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र है। यह जैन-दर्शन की मान्यता सांख्य, नैयायिक और विशिष्टाद्वैतवादी के अनुकूल है, तो भी अद्वैतवादी का मत भिन्न है कारण कि वह मानता है कि स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

जैनों की मान्यता है कि आत्मा कर्म-संयुक्त है। जैसे सोना और मिट्टी का संयोग अनादि है वैसे ही जीव और कर्म का संयोग भी अनादि है। जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सप्त धातु के रूप में परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं।

आत्मा का 'पौद्गलिक अदृष्टवान्' विशेषण होने के कारण न्याय-वैशेषिक और वेदान्ती भिन्न हो जाते हैं। कारण कि चार्वाक अदृष्ट को मानते ही नहीं। न्याय-वैशेषिक अदृष्ट को आत्मा का विशेष गुण मानते हैं और वेदान्ती उसे मायारूप मानकर उसकी सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते।

निष्कर्ष रूप में जैन-दर्शन का आत्मा चैतन्यस्वरूप, विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने पर भी नित्य (कूटस्थनित्य नहीं), शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा उसके फलों का भोक्ता, स्वदेह-परिणामी, न अण, न विभु किन्तु मध्यम-परिमाण का है।

---

१. दशवैकालिकसूत्र, अ० ४, गाथा १६
२. उत्तराध्ययनसूत्र, १/५५
३. 'प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध आत्मा।', प्रमाणन० तत्त्वा०, सूत्र ७/५५
४. 'चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाण प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चायमिति', प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, सूत्र, ७/५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org